शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील 卐

नवम्बर : १९६० ☆ वर्ष सोलहवाँ, कार्तिक, वीर नि०सं० २४८६ ☆ अंक : ७

सम्यक्त्वी हंस

आत्मा के चैतन्य-सरोवर के शांतजल में केलि करनेवाले सम्यक्त्वी हंस को चैतन्य के शांतरस के अतिरिक्त बाह्य में पुण्य-पाप की वृत्ति अथवा इन्द्रिय विषयों की रुचि उड़ गई है। चैतन्य के शांत आनन्द-रस का ऐसा निर्णय (वेदन सहित) हो गया है कि अन्य किसी रस के वेदन में उसे स्वप्न में भी सुख का अनुभव नहीं होता। ऐसा सम्यक्त्वी-हंस निरन्तर शांतरस के सरोवर में केलि करता है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१८७]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

मुक्ति का मार्ग (दूसरी आवृत्ति)

जिसमें सभी जिज्ञासुओं को समझने में सुगम शैली है। हित के मार्ग में प्रवेश करनेवालों को प्रथम किस किस बात का ज्ञान जरूरी है वह बात मुख्यरूप से है—थोक लेकर प्रचार कीजिये पृ० संख्या १०२, मूल्य ५० नया पैसा।

पता —श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत

श्री नियमसारजी

महान आध्यात्मिक शास्त्र, संस्कृत टीका सहित, जिसकी तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा काफी जोरों से माँग है, पूर्णरूप से संशोधित पृष्ठ संख्या ४०० बड़े साइज में, कपड़े की सुन्दर जिल्द मूल्य ५.००) मात्र। पोस्टेज अलग। जिज्ञासुगण शीघ्र आर्डर भेजें। जिल्द बँध रही हैं १० दिन बाद भेज दी जावेगी।

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर
पो० सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

★

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

: संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील

नवम्बर : १९६० ☆ वर्ष सोलहवाँ, कार्तिक, वीर नि०सं० २४८६ ☆ अंक : ७

★★★ शांति का धाम स्वतत्त्व ★★★

जो शांत रस से भरपूर है और जिसमें दुःख का प्रवेश नहीं है

भाई! तेरे ऊपर अनंतकाल से दुःख के दिन बीत रहे हैं.... किंतु अब वह सब भूलकर शांतचित्त से एकबार अपने चैतन्य की ओर देख! भाई, तुझे अपने दुःख के दिनों का अंत करना हो और सच्ची शांति चाहता हो, तो अपने शुद्ध निजतत्त्व को लक्ष में ले। तेरा निजतत्त्व आत्मरस से भरपूर है; उसमें चैतन्य का परम शांतरस भरा है; वहाँ दुःख प्रवेश नहीं कर सकता; इसलिये दुःख से बचने के लिये तू अपने स्वतत्त्व की ही शरण ले!

यह नियमसार के 'पंचरत्नों' की (गाथा ७७ से ८१) वचनिका हो रही है।

शरीर से भिन्न चैतन्यतत्त्व क्या वस्तु है—कि जिसकी श्रद्धा, ज्ञान और आचरण से मोक्षमार्ग सधता है?—उसकी यह बात है। प्रथम तो शरीरादि पदार्थ जड़-अचेतन हैं, वे जीव से भिन्न हैं। जीव के अस्तित्व में वे शरीरादि नहीं हैं और उन शरीरादि में जीव नहीं है; दोनों तत्त्व पृथक्-पृथक् हैं। जीवतत्त्व क्या है—उसे जीव ने कभी लक्ष में नहीं लिया; अपने को भूलकर शरीरादि, सो मैं—ऐसी अज्ञानबुद्धि से राग-द्वेष ही किये हैं; इसलिये वह संसार भ्रमण में दुःख हो रहा है।

आत्मा, शरीर से तो भिन्न है; तदुपरान्त यहाँ तो अंतरंग राग-द्वेषादि अरूपी विकारी भावों से भी भिन्न स्वभाववाला जो शुद्ध जीवतत्त्व है, वही स्वद्रव्य है—ऐसा बतलाना है। भेद के लक्ष से जितना वृत्ति का उत्थान हो, वह भी वास्तव में जीवतत्त्व से बाहर है; भेद की वृत्ति के उत्थान द्वारा शुद्ध जीवतत्त्व में प्रवेश नहीं किया जा सकता। शुद्ध जीवतत्त्व को लक्ष में लेकर उसमें एकाग्र होने से ही शांति और आनन्द का अनुभव होता है। प्रथम ऐसे निजतत्त्व को श्रद्धा में लेना, वह अनादि के

मिथ्यात्व पाप का प्रतिक्रमण है। मिथ्यात्व के प्रतिक्रमण बिना अव्रतादि का प्रतिक्रमण नहीं होता अर्थात् सम्यग्दर्शन के बिना वास्तव में व्रतादि नहीं होते।

स्वद्रव्यरूप शुद्ध आत्मा कैसा है—कि जिसके आश्रय से प्रतिक्रमण होता है ?—उसका यह वर्णन है। शुद्ध आत्मा जिसकी दृष्टि में आया है, उस धर्मात्मा को सकल बहिर्भावों का अकर्तृत्व वर्तता है; इसलिये उसकी परिणति उन बहिरभावों से विमुख होकर अन्तर्स्वरूपोन्मुख हुई है। परिणति को परद्रव्य से विमुख करके स्वद्रव्योन्मुख किये बिना तीन काल- तीन लोक में शांति का अन्य कोई उपाय नहीं है।

भाई, अनंतकाल से तेरे ऊपर दुःख के दिन बीत रहे हैं किन्तु अब वह सब भूलकर शांतचित्त से एकबार यह बात तो सुन! भाई, तुम्हें अपने दुःख के दिनों का अंत लाना हो और सच्ची आत्मशांति की आवश्यकता हो तो अपने शुद्ध निजतत्त्व को लक्ष में ले। तेरा निजतत्त्व आत्मरस से भरपूर है; उसमें चैतन्य का परम शांत रस भरा है; वहाँ दुःख कभी प्रवेश नहीं कर सकता; इसलिये दुःख से बचने के लिये तू अपने स्वतत्त्व की ही शरण ले।

हे जीव! तू जिस शांति को ढूँढ़ रहा है, वह तुझमें ही भरी है। तेरा शुद्ध स्वतत्त्व दुःखरहित है। नरक, तिर्यंच, देव या मनुष्य—ऐसी किसी विभाव पर्याय का कर्तृत्व उसमें नहीं है। नरक में पड़े हुए सम्यग्दृष्टि जीव भी अपने आत्मा को निश्चय से ऐसा ही जानते हैं। शुद्ध आत्मा का आश्रय करनेवाला धर्मात्मा मोहादिभावों का कर्ता नहीं होता, तो फिर उस मोह के फलरूप चारगति का कर्तृत्व तो उसे कहाँ से होगा ?—इसप्रकार चारगति के कर्तृत्वरहित ज्ञानानन्दस्वरूप निज आत्मा को अंतर में ढूँढ़ना-देखना-श्रद्धा करना ही शांति का उपाय है। शांति का स्वधाम स्वतत्त्व ही है। उस स्वतत्त्व को शोधे बिना जगत में—बाह्य में कहीं शांति प्राप्त नहीं हो सकती।

अंतर में प्रवेश करके, चिदानन्दस्वभाव का सत्कार करना, सो सम्यग्दर्शन है। जिसे रागादिभावों का सत्कार है, उसे चिदानन्दतत्त्व का अनादर है। चिदानन्दतत्त्व में राग का अभाव है, तो राग उसका साधन कैसे होगा ? राग वह साधन नहीं है, उसके द्वारा चैतन्य की शांति प्राप्त नहीं होती। उपयोग को अंतरोन्मुख करना ही चैतन्य की शांति का साधन है। शांति का धाम शरीर नहीं है, राग नहीं है, किन्तु शुद्ध चैतन्यरस से भरा हुआ स्वतत्त्व ही शांति का धाम है। श्रद्धा-ज्ञान द्वारा उस स्वतत्त्व में प्रवेश करना ही शांति का उपाय है।

वन में वास करनेवाले तथा चैतन्य की शांति को साधनेवाले संतों ने यह रचना करके जगत

को शांति का उपाय बतलाया है।

नियमसार की इन पाँच (७७ से ८१) गाथाओं को 'पंचरत्न' कहा है; इन पाँच रत्नों के द्वारा आचार्यदेव ने पंचमभावस्वरूप शुद्ध चैतन्यरत्न की पहिचान कराई है। शांति का धाम ऐसा यह शुद्धचैतन्यरत्न, उसे पहिचानकर जो उसमें उन्मुख हुआ, वह जीव संसार से विमुख हो गया, यानी उसने संसार का प्रतिक्रमण किया और मोक्ष की ओर प्रयाण किया। जिसके आश्रय से शांति और मुक्ति होती है, ऐसा यह शुद्ध चैतन्यतत्त्व ही निश्चय से स्वद्रव्य है, तथा वही अंतर्तत्त्व होने से परम उपादेय है; उससे बाह्य भाव, वे सब परद्रव्य और परभाव होने से हेय हैं।

धर्मी जीव अपने शुद्ध चैतन्यतत्त्व से बाह्य ऐसे किसी भी परद्रव्य या परभाव का कर्ता, करानेवाला अथवा अनुमोदन करनेवाला नहीं होता; वह अंतर के शुद्ध चैतन्य का ही आदर करता है, उसी का उसे अनुमोदन है। मेरे चैतन्यतत्त्व में परद्रव्य या परभाव है ही नहीं तो मैं उनका कर्ता कैसे होऊँगा?—ऐसा जानता हुआ धर्मी जीव, परभावों से विमुख होकर निजस्वभाव की ओर झुकता जाता है; यही उसका निश्चयप्रतिक्रमण है। यह वीतरागभाव है। सामायिक, सर्वज्ञ की परमार्थ स्तुति आदि सब आवश्यक (-मोक्ष के लिये अवश्य करने योग्य) का इसमें समावेश हो जाता है।

व्यवहारनय के आश्रय से जिन भावों का वर्णन किया है, वह वास्तव में मेरा स्वभाव नहीं है; मैं तो एक ज्ञायकभाव हूँ। ज्ञायकभाव के अतिरिक्त जो संयोगी भाव हैं, वे सब मेरे स्वभाव से बाह्य हैं। ज्ञायकस्वभावोन्मुख होकर अभेद हुई पर्याय तो ज्ञायकभाव में एकाकार हो गई और रागादि विकल्प ज्ञायकभाव से बाहर रह गये।—इसप्रकार धर्मी के अनुभव में स्वद्रव्य तथा परद्रव्य का विभाग हो गया है। ऐसा विभाग करके जिसने शुद्ध स्वद्रव्य को उपादेय किया है, वह धर्मी जीव ज्यों-ज्यों स्वभाव में एकाग्र होता जाता है, त्यों-त्यों उसे परद्रव्य का अवलम्बन छूटता जाता है और परभाव छूटते जाते हैं; उसी में प्रतिक्रमण और मोक्षमार्ग का समावेश हो जाता है।

इन पाँच रत्नों द्वारा आचार्यदेव ने समस्त विभावपर्यायों का त्याग कराके शुद्ध चिदानन्दस्वरूप का ग्रहण कराया है। इसप्रकार इन पंचरत्नों का तात्पर्य समझकर जो जीव अंतर्मुख होकर स्वतत्त्व में चित्त को एकाग्र करता है और उसके अतिरिक्त समस्त बाह्य विषयों के ग्रहण की चिन्ता छोड़ता है, वह जीव मुक्ति प्राप्त करता है। इसप्रकार स्वभाव और विभाव के भेद का अभ्यास, वह मुक्ति का कारण है। ऐसे स्वतत्त्व का आश्रय करना, वही आत्मा की रक्षा करनेवाला

बंधु है। चैतन्यस्वभाव का आश्रय करके विभावों के उपद्रव से आत्मा की रक्षा करना ही सच्चा 'रक्षापर्व' है। विष्णुकुमार मुनि को अकंपनाचार्य आदि सात सौ मुनिवरों की रक्षा का भाव आया, वह धर्म के वात्सल्य का शुभभाव था; उस शुभभाव से पार ऐसे चिदानन्दस्वभाव का वात्सल्य भी उस समय साथ ही वर्त रहा था। राग से भी आत्मा की रक्षा करना (-भेदज्ञान करना), वह आत्मरक्षा है। जितने अंश में रागादिक हैं, उतने अंश में आत्मा के गुणों का घात होता है और वे रागादि विभाव, आत्मा की शांति में उपद्रव करनेवाले हैं; उन उपद्रवकारी भावों से आत्मा को बचाना चाहिये। किसप्रकार बचाना चाहिये ?—तो कहते हैं कि उन समस्त विभावों से भिन्न अपने शुद्ध स्वतत्त्व में प्रवेश करके उन उपद्रवकारी भावों से आत्मा को बचाना, वह आत्मरक्षा है।

(—श्रावण शुक्ला १३-१४-१५ के प्रवचनों से)

★

मुक्तागिरि में गुरुदेव द्वारा बतलाया गया

मुक्ति का मार्ग

[मुक्तागिरि-सिद्धिधाम में पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन]

(ता. ४-४-५९)

इस भरतक्षेत्र में २००० वर्ष पूर्व श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव हुए थे। वे महान भावलिंगी संत थे.... और पोन्नूर हिल पर तप करते थे। उस पोन्नूर क्षेत्र की यात्रा कुछ ही दिन पूर्व हमने की है। पोन्नूर पर छोटी-छोटी गुफाएँ हैं और चम्पा वृक्ष के नीचे आचार्य भगवान की चरण पादुका हैं। वे रत्नत्रय को प्राप्त थे। वहाँ से महाविदेहक्षेत्र में जाकर उन्होंने सीमंधर भगवान के उपदेश का साक्षात् श्रवण किया था और फिर भरतक्षेत्र में आकर समयसारादि परम अध्यात्मशास्त्रों की रचना की थी। उन समयसारादि शास्त्रों में हजारों शास्त्रों के बीज भरे हैं। उनके बाद उन समयसारादि के आधार पर मुनिवरों ने अनेक शास्त्रों की रचना की है और उनमें शुद्धात्मा की प्राप्ति का उपाय बतलाया है।

यहाँ इस समय 'तत्त्वज्ञान तरंगिणी' की वचनिका हो रही है; इस शास्त्र की रचना लगभग ४०० वर्ष पहले श्री ज्ञानभूषणस्वामी ने की थी। उसमें वे कहते हैं कि—

रत्नत्रयोपलम्भेन विना शुद्धचिदात्मनः।
प्रादुर्भावो न कस्यापि श्रूयते हि जिनागमे॥ *(—अध्याय १२, श्लोक-१)*

शुद्धचैतन्यतत्त्व की प्राप्ति अर्थात् सिद्धपद की प्राप्ति रत्नत्रय के बिना किसी भी जीव को नहीं होती। शुद्ध रत्नत्रय, वह मोक्ष का असाधारण कारण है अर्थात् वह एक ही मोक्ष का कारण है; अन्य कोई मोक्ष का कारण नहीं है। जिनागम में रत्नत्रय को ही शुद्धात्मा की प्राप्ति का उपाय कहा है।

रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह मोक्षमार्ग है; उसके बिना कभी मोक्ष अर्थात् शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं होती। जीव ने अनादिकाल से शुभाशुभराग का प्रयत्न किया है किन्तु शुद्धरत्नत्रय की प्राप्ति का प्रयत्न वास्तव में कभी किया ही नहीं।

देखो, यह मुक्तागिरि साढ़े तीन करोड़ मुनियों का मुक्तिधाम है; इस मुक्तागिरि में मुक्ति का मार्ग बतलाया जा रहा है। जो साढ़े तीन करोड़ मुनि यहाँ से मुक्ति में गये, वे किस प्रकार गये हैं ?—कि स्वयं अपने आत्मा में शुद्धरत्नत्रय की आराधना करके ही उन्होंने मुक्ति प्राप्त की है। राग द्वारा या पर का कुछ करने की बुद्धि द्वारा वे मोक्ष को प्राप्त नहीं हुए किन्तु उनका त्याग करके मुक्ति प्राप्त की है।

इस जगत में जीव, पुद्गल आदि छह प्रकार के द्रव्य हैं, वे सब स्वतंत्र हैं; एक-दूसरे से निरपेक्षरूप से सब अपनी-अपनी परिणति करते हैं। सुदृष्टि तरंगिणी में छह मुनियों का दृष्टान्त दिया है। जिसप्रकार पर्वत की गुफा में छह मुनि रहते हों, तो वे छहों मुनि अपनी-अपनी रत्नत्रय-आराधना में वर्तते हुए एक-दूसरे से निरपेक्ष हैं। कोई मुनि आहार के लिये जाते हैं तो कोई आत्मध्यान में एकाग्रतापूर्वक बैठे रहते हैं;—इसप्रकार एक-दूसरे से निरपेक्षरूप से वीतरागभाव से रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग की साधना करते हैं। उसीप्रकार जगत की गुफा में यह जीवादि छह प्रकार के द्रव्य हैं, वे स्वतन्त्र हैं, एक-दूसरे से निरपेक्षतया अपनी-अपनी परिणति में परिणमित हो रहे हैं; किसी को किसी की पराधीनता नहीं है। इसप्रकार तत्त्वों की स्वतंत्रता जानकर पर से निरपेक्षतया अपने चिदानन्दस्वरूप को ध्याना, वह मोक्ष का उपाय है। शुद्ध चैतन्य का ध्यान कहो, स्वानुभूति कहो अथवा मोक्षमार्ग कहो—वह सब एक ही है।

समयसार के मंगलाचरण में ही आचार्यदेव कहते हैं कि—

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते

देखो, स्वानुभूति ही आत्मा की प्रसिद्धि का उपाय है—ऐसा कहा है; राग आत्मा की

प्रसिद्धि का उपाय नहीं है। राग द्वारा तो कर्म बंधन होता है। ज्ञान को अंतरोन्मुख करके राग से पार चिदानन्दस्वरूप का स्वानुभव करना ही मुक्ति का उपाय है।

यहाँ मुक्तागिरि सिद्धक्षेत्र पर करोड़ों मुनिवर पंक्तिबद्ध (समश्रेणी में-सिद्धरूप से) विराजमान हैं। जिसप्रकार सम्मेदशिखर सिद्धिधाम के ऊपर अनंत तीर्थंकर और मुनिवर सिद्धरूप में विराज रहे हैं, उसीप्रकार यहाँ से मुक्ति को प्राप्त करोड़ों मुनिवर भी ठीक इस मुक्तागिरिधाम के ऊपर सिद्धक्षेत्र में इस समय सिद्धरूप में विराजमान हैं। तीर्थयात्रा में ऐसे सिद्धों तथा मुनियों का स्मरण करते हैं। जहाँ से आत्मा की सादि अनंत पूर्णानन्द सिद्धदशा प्रगट हुई, वह सिद्धिधाम है और उसके स्मरणार्थ सिद्धि-धामों की यात्रा है। अहो! यहाँ से मुनियों ने क्षपकश्रेणी लगाकर केवलज्ञान लिया और मुनि तथा तीर्थंकर ऊर्ध्वगमन करके सिद्धालय में जाकर विराजमान हो गये.... इसप्रकार धर्मात्मा जीव आत्मा की पूर्णदशा का स्मरण करके उसकी भावना भाते हैं।

शुद्ध चैतन्यस्वरूप का आदर कर-करके ही मुनिवर मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। धर्मात्मा का कार्य क्या है ?—कि शुद्ध चैतन्य का आदर करना। आदर कहने से उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान तथा उसमें लीनता—इन तीनों का समावेश हो जाता है।

शुद्ध चैतन्यस्वरूप में राग की नास्ति ही है; इसलिये जहाँ शुद्ध चैतन्यस्वरूप का आदर किया, वहाँ राग का आदर छूट ही जाता है। शुद्ध चैतन्य की अस्ति में 'राग को छोड़ूँ'—ऐसा नास्तिपक्ष का विकल्प भी नहीं है। शुद्ध चैतन्य के आदर में राग छूट जाता है, परन्तु 'राग छोड़ूँ'—ऐसे विकल्प से राग नहीं छूटता।

यहाँ से जो मुनि मोक्ष गये हैं, अथवा सम्पूर्ण मनुष्यक्षेत्र से जो मुनि मोक्ष को प्राप्त हुए हैं या होंगे—वे सर्व मुनि शुद्ध चैतन्य की आराधना से रत्नत्रय प्रगट कर-करके ही मोक्षगामी हुए हैं। अहा! मुनिदशा क्या वस्तु है!! बारम्बार निर्विकल्प होकर स्वानुभूति में अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करते हैं। स्वानुभूति करते-करते चैतन्य पिण्ड को राग से बिल्कुल पृथक् करके केवलज्ञान प्रगट करते हैं। ऐसे साढ़े तीन करोड़ मुनिवर इस मुक्तागिरि क्षेत्र से मुक्ति को प्राप्त हुए... और इस समय वे ऊपर सिद्धरूप में विराजमान हैं।

उन सिद्ध भगवन्तों को हमारा नमस्कार हो।

मुक्तागिरि की यात्रा कराके..... मुक्ति का मार्ग दिखानेवाले.... मुक्तिपुरी के पथिक.... हे कहान गुरुदेव! हमें भी मुक्तिपथ पर अग्रसर करते रहें।

श्री कुंदकुंदाचार्यदेव का विदेहगमन

तथा

उनकी समझाई हुई भेदज्ञान की अपूर्व

—बात—

[बीस विदेही भगवन्तों के धाम दहीगाँव में पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से]

(माघ शुक्ला १० वीं वीर सं० २४८५)

पूज्य गुरुदेव की 'दक्षिण-यात्रा' के समय प्रथम मुख्य स्थान आया दहीगाँव। ऊबड़ खाबड़ और टेढ़े-मेढ़े मार्ग की यात्रा से थके हुए यात्रियों को दहींगाँव में महामनोज्ञ और बड़ी अवगाहना सहित सीमंधरादि बीस विहरमान भगवन्तों के एकसाथ दर्शन होने पर अत्यन्त आनंद हुआ.... विदेह के बीस भगवन्तों को भारत में एकसाथ देखकर भक्तों का हृदय हर्ष से नाच उठा। वहीं का यह प्रवचन है; जिसमें गुरुदेव ने सीमंधरादि भगवन्तों का स्मरण करके अपना हृदयोल्लास व्यक्त किया है।

[पूना से लोणन्द होकर दहीगाँव का रास्ता है।]

यह समयसार शास्त्र पढ़ा जा रहा है। इस भरतक्षेत्र में संवत् ४९ के आसपास श्री कुंदकुंद मुनिराज हो गये हैं; वे महा पवित्र ऋद्धिधारी संत थे और महाविदेहक्षेत्र में विराजमान सीमंधर परमात्मा के पास गये थे; उन्हीं ने समयसार शास्त्र की रचना की है।

वर्तमान महाविदेहक्षेत्र में बीस तीर्थंकर साक्षात् विराजमान हैं; यहाँ बड़े विशाल जिनमन्दिर हैं भोंयरे में उन्हीं सीमंधरादि बीस तीर्थंकरों की सुन्दर स्थापना है। जो अवश्य दर्शनीय है। एक साथ सीमंधर, युगमंधर, बाहु, सुबाहु आदि बीस तीर्थंकर यहाँ प्रथम बार ही देखे। ऐसी स्थापना अन्यत्र कहीं देखने में नहीं आई। (दहीगाँव के बाद यात्रा में आगे जाने पर कचनेरा ग्राम में धातु के बीस तीर्थंकर भगवन्तों के दर्शन हुए थे।) वे बीस तीर्थंकर पाँच विदेहक्षेत्र में साक्षात् सर्वज्ञपद पर समवसरण में विराज रहे हैं। अरे! 'इस भरतक्षेत्र में साक्षात् तीर्थंकर भगवन्तों का विरह है.... विदेहक्षेत्र में तो वे साक्षात् विराजमान हैं!'

इसप्रकार अंतर में विदेहक्षेत्र के तीर्थंकरों का स्मरण करके श्री कुंदकुंदाचार्यदेव उनका

ध्यान कर रहे थे कि सीमंधर भगवान के मुखकमल से 'सद्धर्मवृद्धिः अस्तु' ऐसा आशीर्वाद दिव्यध्वनि द्वारा निकला.... और उसी समय कुंदकुंदाचार्यदेव ने सीमंधरनाथ की धर्मसभा में प्रवेश किया।—विदेहक्षेत्र के मनुष्य तो पाँच सौ धनुष ऊँचे थे और भरतक्षेत्र के श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव के शरीर की ऊँचाई एक धनुष! इसलिये चक्रवर्ती आश्चर्यसहित भगवान से पूछते हैं कि हे नाथ! यह कौन है? तब भगवान की दिव्यध्वनि में आया कि—वे भरतक्षेत्र में धर्म की वृद्धि करनेवाले महान आचार्य हैं।—भगवान के मुख से वह वाणी सुनकर चक्रवर्ती आदि सभाजन अति हर्षित हुए.... ऐसे महापवित्र कुंदकुंद आचार्यदेव ने भगवान की दिव्यवाणी का साक्षात् श्रवण करके इस समयसार शास्त्र की रचना की है; इसमें मुख्यरूप से आत्मज्ञान का विषय समझाया गया है।

यह आत्मा अपनी भूल के कारण अनंतानंतकाल से संसार परिभ्रमण कर रहा है, किन्तु आत्मा का यथार्थ स्वरूप उसने कभी नहीं जाना। अनंतबार पुण्य-पाप करके स्वर्ग तथा नरक में गया; अज्ञानरूप से व्रतादि करके स्वर्ग में भी अनंतबार गया, किन्तु उसका संसारभ्रमण दूर नहीं हुआ।

'मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रीवक उपजायो,
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।'

यह जीव आत्मज्ञान के बिना संसार भ्रमण करते हुए महान देव भी हुआ और नरक का नारकी भी हुआ, महान राजा भी हुआ और रंक-भिखारी भी हुआ। जगत् के बाह्य विद्या भी अनंतबार पढ़ी, किन्तु अंतर में चैतन्यविद्या का अभ्यास कभी नहीं किया। राग से भिन्न चिदानन्दस्वरूप आत्मा है—ऐसा जहाँ सम्यक् भेदज्ञान होता है, वहाँ उसी क्षण ज्ञान रागादि से विरति प्राप्त करता है.... भेदज्ञान होते ही ज्ञान अंतर्स्वभावोन्मुख होकर राग से पृथक् हो जाता है। ऐसा भेदज्ञान अपूर्व वस्तु है; एक क्षण का भेदज्ञान अनंत संसार का नाश कर देता है.... विदेहक्षेत्र में सीमंधर परमात्मा विराजमान हैं; उनकी सभा में बड़े-बड़े राजकुमार तथा आठ-आठ वर्ष के बालक और तिर्यंच भी ऐसा अपूर्व भेदज्ञान प्रगट करके सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा होते हैं।

वे सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जानते हैं कि—

'चेतनरूप अनूप अमूरत
सिद्ध समान सदा पद मेरो....'

जहाँ आत्मा का भान हुआ, वहाँ धर्मी निःशंक जानता है कि अब हमारे सम्यग्ज्ञानरूपी कला प्रगट हुई है; अपने आत्मा को हमने परभावों से भिन्न, अनुपम, चैतन्यमूर्ति, सिद्धसमान जाना है और अब हमारे भव का अंत निकट आया है।

साधक की वर्तमानदशा में अंशत: निर्मलता तथा अंशत: मलिनता—ऐसे दोनों भाव वर्तते हैं; तथापि उसे भेदज्ञान वर्तता है कि यह मलिनता मेरे आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है; मेरा वास्तविकस्वरूप तो पवित्र चैतन्यरूप है। ऐसे भेदज्ञान की क्रिया द्वारा सिद्धपद की साधना होती है। सिद्धपद न हो और राग हो, तबतक धर्मात्मा को पूजा-प्रतिष्ठा-यात्रा-भक्ति आदि का भाव आता है, किन्तु धर्मी उस भाव को पुण्यबंध का कारण समझता है। पुण्य-बंध के कारणरूप रागभाव, और मोक्ष के साधनरूप आत्मज्ञान—यह दोनों भाव साधक को एकसाथ रह सकते हैं; एकसाथ होने पर भी वे दोनों भाव एक नहीं हैं किन्तु भिन्न-भिन्न जाति के हैं। जिसप्रकार विपरीत ज्ञान और सम्यग्ज्ञान—यह दोनों तो एकसाथ नहीं रह सकते; किन्तु राग और ज्ञान के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है अर्थात् अविरति सम्बन्धी राग तथा आत्मा का ज्ञान—यह दोनों तो एकसाथ भी रह सकते हैं। तथापि वहाँ साधक तो उस राग का ज्ञाता है। राग का कर्तृत्व और ज्ञातृत्व—दोनों एकसाथ नहीं रह सकते। जो जीव ज्ञाता है, वह रागादि विकारी भाव को अपना कर्तव्य मानकर कर्ता नहीं होता; किन्तु अपने ज्ञान को राग से भिन्न जानता हुआ ज्ञाता ही रहता है। अज्ञानी जीव, राग में एकत्वरूप से वर्तता हुआ उसका कर्ता होता है, वह ज्ञाता नहीं रह सकता। क्योंकि—

करे करम सोही करतारा, जो जाने सो जाननहारा;
जाने सो कर्ता नहिं होई, करे सो जाने नहिं कोई।

भगवान कहते हैं कि—अरे जीव! अपने ज्ञानस्वभाव की बात एकबार सुन तो सही! धर्मात्मा जानता है कि मैं चाहे जहाँ होऊँ, किन्तु 'मैं तो शुद्धचिद्रूप हूँ—शुद्धचिदरूपोऽहं' शुद्ध चैतन्यस्वरूप के अतिरिक्त अन्य कुछ भी मेरा नहीं है। जिसप्रकार लैंडी पीपल के एक-एक दाने में चौंसठ पुटी परिपूर्ण चरपराहट भरी हुई है; उसीप्रकार प्रत्येक आत्मा में परिपूर्ण आनंद तथा सर्वज्ञता की शक्ति है; उसे पहिचानकर उसमें एकाग्रता द्वारा सर्वज्ञता और पूर्णानन्द प्रगट होते हैं। सर्वज्ञता या पूर्णानन्द कहीं बाहर से या राग में एकाग्रता से प्रगट नहीं होते। मेरे स्वभाव में ही पूर्णानन्द और सर्वज्ञता प्रगट होने की शक्ति है—ऐसे अन्तर्विश्वासपूर्वक सम्यग्दर्शन प्रगट करते ही अनंत भव का मूल छिद जाता है। जिसप्रकार वृक्ष का मूल छिद जाने पर डालियाँ और पत्ते अधिक काल तक नहीं रहते किन्तु अल्पकाल में ही सूख जाते हैं; उसीप्रकार सम्यग्दर्शन होने पर जहाँ संसार का मूल छिद गया, वहाँ धर्मी को दीर्घ संसार नहीं रहता, वह अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करता है।—ऐसा सम्यग्दर्शन प्रत्येक जीव को करने योग्य है।

संतों की शांतिदायक वाणी

[मलकापुर में पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन, (ता० ३०-३-५९)]

यह समयसार शास्त्र की वचनिका हो रही है। आत्मा, देह से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसमें सर्वज्ञ होने की शक्ति है। सर्वज्ञ होने के पश्चात् भगवान की वाणी सहज-बिना इच्छा के निकली और बारह सभाओं के जीव उसे अपनी-अपनी भाषा में समझ गये। भगवान की वाणी सुनकर कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने लगभग दो हजार वर्ष पहले इस शास्त्र की रचना की है और अमृतचन्द्राचार्यदेव ने एक हजार वर्ष पहले इसकी टीका रची है.... अमृतचन्द्र आचार्यदेव की वाणी में सचमुच अमृत है। आत्मा का ज्ञानानन्दस्वरूप क्या है, वह उन्होंने समझाया है। उसे समझे बिना जीव का संसार-भ्रमण दूर नहीं होता। आत्मा को समझे बिना अनादिकाल से जीव, संसार में भटककर दु:खी हो रहा है। श्रीमद् राजचन्द्र २९ वर्ष की उम्र में कहते हैं कि—

'जे स्वरूप समज्या बिना पाम्यो दु:ख अनन्त,
समजाव्युं ते पद नमुं श्री सद्गुरु भगवंत।'

जीव को किसी दूसरे ने (कर्म ने या ईश्वर ने) दु:ख नहीं दिया है, किन्तु स्वयं अपने स्वरूप को भूलकर दु:खी हुआ है। आत्मा की पहिचान के अतिरिक्त अन्य सब कुछ अनन्त बार कर चुका है; पुण्य करके स्वर्ग में भी अनन्तबार हो आया; किन्तु उससे आत्मा का धर्म लेशमात्र नहीं हुआ। पं० दौलतरामजी 'छहढाला' में कहते हैं कि—

'मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रीवक उपजायो,
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।'

आत्मा के स्वरूप को समझे बिना-सम्यग्दर्शन प्रगट किये बिना जीव शुभरागरूप व्रत-तप जो भी कुछ करता है, वह सब एकरहित शून्य के समान व्यर्थ है। शुभराग हो भले, किन्तु धर्म के लिये वह किंचित् भी कार्यकारी है—यह मान्यता भ्रम है—मिथ्या है, वही संसार का मूलकारण है।

आत्मा, शरीर से भिन्न, आंतरिक विकार से भी भिन्न शुद्ध चैतन्यमूर्ति है; वही प्रधान है। जिसप्रकार नारियल में ऊपर के जटों से गोला पृथक् होता है; छाल-नरेली भी गोले से पृथक् है, तथा गोले के ऊपर जो लाली रहती है, वह भी सफेद-मीठे गोले से पृथक् है; जटे, छाल और लाली—इन सबसे भिन्न जो शुद्ध सफेद-मीठा गोला है, वही नारियल में सारभूत है; उसीप्रकार

ज्ञान और आनन्दस्वरूप आत्मा इस शरीररूपी जटों से पृथक् है, कर्मरूपी छाल-नरेली से पृथक् है और अन्तर में रागरूपी लाली से भी वह पृथक् है; ज्ञान और आनन्द के स्वाद से भरपूर शुद्ध चैतन्य गोला ही सारभूत वस्तु है; उसकी प्रतीति-श्रद्धा करके उसके अनुभव में लीनता, सो मोक्षमार्ग है।

अज्ञानी अपने आत्मा को भूलकर ऐसा मानता है कि कोई मुझे तारता है और कोई डुबाता है। भगवान तारते हैं और कर्म डुबाते हैं; परन्तु ऐसा नहीं है। भाई! तू अपनी ही भूल से भटका है और तू ही अपनी भूल को हटाकर उस परिभ्रमण का अन्त कर सकता है। पूजा में भी कहा है कि—

'कर्म बिचारे कौन भूल मेरी अधिकाई,
अग्नि सहे घनघात लोहकी संगत पाई।'

जिसप्रकार प्रत्येक लैंडी पीपल में चौंसठपुटी चरपराहट की शक्ति भरी है, उसीप्रकार प्रत्येक आत्मा में सर्वज्ञता और पूर्णानन्द की शक्ति विद्यमान है। अपने स्वभाव की शक्ति को भूलकर आत्मा स्वयं अज्ञान से दु:खी हो रहा है और अपने स्वभाव की शक्ति का विश्वास करके, उसे सँभालकर वह स्वयं परमात्मा हो जाता है।

जिसे शांति प्राप्त करने की इच्छा जागृत हुई हो, वह सन्तों के निकट जाकर उसका उपाय पूछता हे, और सन्त उसे आत्मशांति का उपाय बतलाते हैं। 'जो शांति दे, उसे संत कहते हैं।'

जिज्ञासु शिष्य श्रीगुरु के पास जाकर विनय से पूछता है कि 'हे प्रभो! यह आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है और रागादि बन्धभाव उसे क्लेशरूप हैं; तो फिर आत्मा और बन्ध को पृथक् कैसे करें? किस साधन द्वारा आत्मा बन्धन से पृथक् हो सकता है?' आचार्यदेव उसका साधन बतलाते हुए कहते हैं कि—

'जीव बंध बंने नियत, निज निज लक्षणे छेदाय छे;
प्रज्ञा छीणी थकी छेदतां, बंने जुदा पडी जाय छे॥'

देखो, यह भेदज्ञान का साधन! भेदज्ञान का साधन बाह्य में कहीं नहीं है; अन्तर में प्रज्ञारूपी छैनी ही साधन है; उस साधन द्वारा ही आत्मा बन्धन को छेदकर मुक्ति प्राप्त करता है। तीनों काल यह एक ही मुक्ति का पन्थ है।—'एक होय त्रणकालमां परमारथनो पन्थ।'

शिष्य कहता है : 'प्रभो! आपने अन्तर में भेदज्ञान करके बन्ध से भिन्न शुद्ध आत्मा को जाना है और आप उसकी पूर्ण प्राप्ति का साधन कर रहे हैं; तो मुझे कृपा करके वह साधन बतलाइये! ऐसे पात्र शिष्य को आचार्यदेव ने भेदज्ञान का साधन समझाया है। ऐसा भेदज्ञान करना ही मोक्ष का मार्ग है।'

परम शांतिदायिनी
अध्यात्म-भावना

भगवान श्री पूज्यपाद स्वामी रचित 'समाधिशतक' पर परम पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के अध्यात्म भरपूर वैराग्य प्रेरक प्रवचनों का सार

[अंक १८५ से आगे]

[वीर संवत् २४८२, अषाढ़ कृष्णा १२, गाथा ४०]

जिसे चैतन्य के आनन्द का अनुभव नहीं है, उसे बाह्य विषयों में सुखबुद्धि होती है; और चैतन्य के आनन्द का भान होने पर भी जिसे उसके अनुभव में लीनता नहीं है, उसी को बाह्य पदार्थों सम्बन्धी राग-द्वेष होते हैं। उपयोग को अंतर्मुख करके जिसे अपने अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव में लीनता वर्तती है, उसका झुकाव बाह्य पदार्थों के प्रति होता ही नहीं, इसलिये उसे तो किसी पदार्थ सम्बन्धी राग-द्वेष नहीं होते।

राग-द्वेष दूर करने का उपाय क्या ?

—चैतन्यस्वरूप में उपयोग को लगाना ही राग-द्वेष को दूर करने का उपाय है। इसके अतिरिक्त बाह्य पदार्थों के प्रति आकर्षण रखकर, राग-द्वेष को दूर करना चाहे तो वे कभी दूर नहीं हो सकते। प्रथम तो जिसने देहादि से भिन्न और रागादि से भी परमार्थतः भिन्न ऐसे चिदानन्दस्वरूप का भान किया हो, उसी को उसमें उपयोग की लीनता होती है परन्तु जो जीव, शरीरादि की क्रिया को अपनी मानता हो अथवा राग से लाभ मानता हो; उसका उपयोग, शरीर या राग से हटकर चैतन्योन्मुख कैसे होगा ? जहाँ लाभ मानता हो, वहाँ से अपने उपयोग को क्यों हटायेगा ?—नहीं हटा सकता। इसलिये उपयोग को अपने चिदानन्दस्वरूप में एकाग्र करने की इच्छा रखनेवाले को प्रथम तो अपने स्वरूप को देहादि से तथा रागादि से अत्यन्त भिन्न जानना चाहिये। जगत के किसी भी बाह्य विषय में अथवा उस ओर के राग में कहीं स्वप्न में भी मेरा सुख या शान्ति नहीं है। अनंत काल तक बाह्य भाव किये, किन्तु मुझे किंचित् सुख प्राप्त नहीं हुआ! जगत में यदि कहीं मेरा सुख

हो तो वह मेरे निजस्वरूप में ही है, अन्यत्र कहीं नहीं। इसलिये अब मैं बाह्य उपयोग को छोड़कर अपने स्वरूप में ही उपयोग को लगाता हूँ। ऐसे दृढ़ निर्णयपूर्वक धर्मी जीव बारम्बार अपने उपयोग को अंतरस्वरूप में लगाता है।

इसप्रकार उपयोग को अंतरस्वरूप में लगाना ही जिन-आज्ञा है, वही आराधना है, वही समाधि है, वही सुख है तथा वही मोक्ष का पंथ है ॥४०॥

[वीर सं० २४८२, अषाढ़ कृष्णा १३, 'समाधिशतक' गाथा ४१]

चैतन्यस्वभाव की महत्ता और बाह्य इन्द्रियविषयों की तुच्छता जानकर; अपने उपयोग को बारम्बार चैतन्यभावना में लगाना चाहिये; ऐसा करने से पर के ओर की आसक्ति नष्ट होती है और वीतरागी आनन्द का अनुभव होता है—ऐसा पूर्व गाथा में कहा है। उसी बात को दृढ़ करते हुए अब कहते हैं कि आत्मा के विभ्रम से उत्पन्न हुआ दुःख, आत्मा की भावना से ही नष्ट होता है। जो आत्मज्ञान का उद्यम नहीं करते, वे घोर तप करने पर भी निर्वाण को प्राप्त नहीं होते—

आत्मविभ्रमजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति।
नाऽयतास्तत्र निर्वान्ति कृत्वापि परमं तपः ॥४१॥

आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसे भूलकर शरीरादि में आत्मबुद्धिरूप जो विभ्रम है, वही दुःख का मूल है। उस आत्मविभ्रम से हुआ दुःख, आत्मज्ञान द्वारा ही दूर होता है। 'देहादिक से भिन्न नित्य ज्ञान-दर्शनस्वरूप ही मैं हूँ, अन्य कोई मेरा नहीं है'—ऐसे आत्मज्ञान के बिना दुःख दूर करने का कोई अन्य उपाय नहीं है। ऐसे आत्मज्ञान के बिना घोर तप करे, तथापि जीव निर्वाण-पद को प्राप्त नहीं होता।

जो आत्मज्ञान का तो प्रयत्न नहीं करते और व्रत-तप का ही उद्यम करते हैं, वे मात्र क्लेश को ही प्राप्त होते हैं; निर्वाण को प्राप्त नहीं होते। उन्हें जो व्रत-तप हैं, वे आत्मा की भावना से नहीं है, किन्तु राग की और विषयों की ही भावना से हैं। भले ही प्रत्यक्षरूप से विषयों की इच्छारूप पाप भावना तो न हो, किन्तु अंतर में जो विषयातीत चैतन्य का वेदन नहीं करता, वह राग के ही वेदन में रुका है, इसलिये उसके अभिप्राय में राग की रुचि और राग के फलरूप इन्द्रियविषयों की भावना विद्यमान ही है। आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद बिना, विषयों की भावना वास्तव में टूटती ही नहीं।

जो आत्मज्ञान का प्रयत्न करते हैं, वे ही दुःख से छूटते हैं; जो आत्मज्ञान का प्रयत्न नहीं करते, वे दुःख से नहीं छूट सकते।

देखो, इन पूज्यपादस्वामी ने 'तत्त्वार्थसूत्र' पर 'सर्वार्थसिद्धि' नाम की टीका रची है; वे कहते हैं कि आत्मा का विभ्रम ही दुःख का कारण है। कर्म के कारण दुःख है—ऐसा नहीं कहा, किन्तु आत्मज्ञान का प्रयत्न स्वयं नहीं करता, इसीलिये दुःख है। 'कर्म बिचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई'; अपनी भूल से ही आत्मा दुःखी होता है, कर्म बेचारे क्या कर सकते हैं? तथापि अज्ञानी कर्मों को दोष देता है कि कर्म मुझे दुःख देते हैं! अपना दोष दूसरे पर डालता है, वह अनीति है; वह जैननीति को नहीं जानता। यदि जिनधर्म को समझ ले तो ऐसी अनीति की सम्भावना नहीं रहती। मोक्षमार्गप्रकाशक में कहते हैं कि—'तत्त्व निर्णय करने में उपयोग नहीं लगाता। वह जीव का ही दोष है... तत्त्वनिर्णय करने में कहीं कर्म का तो दोष नहीं है, किन्तु तेरा ही दोष है... तू स्वयं साधु रहकर अपना दोष कर्मादि पर डाल रहा है परन्तु जिन-आज्ञा को मान ले तो ऐसी अनीति की संभावना नहीं रहती...' अर्थात् तो अपना दोष कर्म पर डालता है, वह जीव, जिनाज्ञा से बाहर है।

आत्मस्वरूप के ज्ञान बिना उसमें एकाग्रतारूप तप होता ही नहीं। आत्मज्ञान के बिना हठपूर्वक व्रत-तप करना चाहे तो उसमें मात्र कष्ट ही है। भले ही शुभराग करे, तथापि उसमें केवल कष्ट ही है; आत्मा की शांति किंचित् नहीं है। दुःख कारण तो आत्मविभ्रम है; उस भ्रम को दूर किये बिना दुःख दूर हो ही नहीं सकता। आनन्द का वेदन हो दुःख के अभाव की रीति है। जिस तप में आत्मा के आनन्द का वेदन नहीं, उसमें कष्ट ही है।

आत्मज्ञान के बिना रागादिक कम हो ही नहीं सकते। पहले आत्मज्ञान करे, फिर उसमें लीनता द्वारा रागादिक कम होने पर, व्रत-तप और मुनिदशा होती है। पण्डित टोडरमलजी भी कहते हैं कि—जिनमत में तो ऐसी परिपाटी है कि प्रथम सम्यक्त्व होता है और फिर व्रत होते हैं। अब, सम्यक्त्व तो स्व-पर का श्रद्धान होने पर होता है, तथा वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने से होता है; इसलिये प्रथम द्रव्यानुयोग-अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि हो और फिर चरणानुयोग-अनुसार व्रतादिक धारण करके व्रती होता है।

जीव को जब तक अपना यथार्थ स्वरूप लक्ष में न आये, तब तक परभावों में आत्मबुद्धि दूर नहीं होती; इसलिये रागादि परभाव के वेदन में अटककर 'इतना ही मैं' अथवा 'देहादि की क्रिया है, वह मैं हूँ'—ऐसी आत्मभ्रमणा से परभावों में ही लीन होकर जीव महान दुःख का वेदन कर रहा है। यह आत्मभ्रमणा ही महान दुःख का मूल है—यह बात जब तक ख्याल में न आये, तब तक आत्मज्ञान का सच्चा पुरुषार्थ जागृत नहीं होता और आत्मज्ञान के बिना सच्ची शांति नहीं होती।

भाई! तू आत्मा की शांति चाहता हो.... तुझे अतीन्द्रिय आनन्द की आवश्यकता हो तथा दु:ख दूर करना हो तो अपने आत्मज्ञान का उद्यम कर... एक आत्मज्ञान ही शांति और आनन्द का उपाय है; उसी उपाय से दु:ख दूर होता है; अन्य किसी उपाय से दु:ख दूर नहीं होता। 'छहढाला' में कहा है कि—

ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण,
यह परमामृत जन्म जरा मृत्यु रोग निवारण॥

आत्मज्ञान के बिना अन्य किसी उपाय से सुख नहीं होता—यह बात भी 'छहढाला' में कही है—

मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो,
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो॥

आत्मज्ञान के बिना मात्र शुभराग से पञ्चमहाव्रत का पालन करके नववें ग्रैवेयक तक देवलोक में गया, तथापि वहाँ किंचित् सुख प्राप्त नहीं हुआ; दु:ख ही मिला। अज्ञानी जीव की क्रिया संसार के लिये सफल है और मोक्ष के लिये निष्फल है तथा ज्ञानी की जो धर्मक्रिया है, वह संसार के लिये निष्फल है और मोक्ष के लिये सफल है। जिसके अंतर में स्वसन्मुख प्रयत्न नहीं है, वह जितना परोन्मुख प्रयत्न करता है, उसका फल दु:ख और संसार ही है। आत्मस्वभाव में स्वसन्मुख प्रयत्न से ही सुख और मुक्ति होती है; इसलिये आत्मज्ञान के उद्यम का उपदेश है ॥४१॥

बहिरात्मा क्या चाहता है और धर्मात्मा क्या?—वह आगे कहेंगे।

बंधन से छूटने का उपाय बतलाकर

आचार्यदेव शिष्य की जिज्ञासा तृप्त करते हैं

[श्री समयसार गाथा ६९ से ७२ के प्रवचनों का दोहन]

(अंक १८५ से आगे)

आत्मा का स्वभवा और रागादि विभाव—इन दोनों का भिन्नत्व जानकर, हे जीव! तू रागादि से निवृत्त हो... और अंतर्मुख होकर अपने ज्ञानस्वभाव में ही प्रवृत्ति कर! ऐसा करने से तेरे भवबन्धन टूट जायेंगे और तुझे अपने सुख का अनुभव होगा।

९२- ❀ मेरा आत्मा पवित्र स्वभावी है, आस्रव अशुचिरूप हैं।

❀ मेरा आत्मा स्व-परप्रकाशक ज्ञानस्वभावी है, आस्रव उससे विपरीत अर्थात् स्व-पर को न जाननेवाले हैं, वे तो अपने से भिन्न ऐसे अन्य द्वारा ज्ञात होते हैं; आस्रवों से भिन्न ऐसा ज्ञान ही उन्हें जानता है।

❀ मेरा आत्मा सहज सुख स्वभावी है, उसमें दु:ख का नाम भी नहीं है; आस्रव तो आकुलताजनक होने से दु:ख के कारण हैं, उनमें शांति नहीं है।

—ऐसा जाननेवाला ज्ञान, शुद्ध आत्मा में प्रवर्तित होकर आस्रवों से निवृत्त हो जाता है।

९३— शुद्ध आत्मा को जाने और उसमें ज्ञान की प्रवृत्ति न हो, ऐसा कभी नहीं हो सकता। इसीप्रकार आस्रवों को दु:खरूप जाने और फिर भी ज्ञान उसमें लीनतारूप वर्तन करे तथा उससे निवृत्त न हो—ऐसा कभी नहीं हो सकता। क्रोधादि से पृथक् होकर स्वभावोन्मुख हुए—बिना स्वभाव में एकता किये बिना सचमुच आत्मा को या आस्रवों को नहीं जाना जा सकता।

९४—ज्ञातृत्व और कर्तृत्व एक साथ नहीं होते। वह इसप्रकार—आत्मा और आस्रवों के भिन्न-भिन्न स्वरूप का जो ज्ञाता है, वह रागादि का कर्ता नहीं है; तथा जो रागादि का कर्ता है, वह आत्मा और आस्रवों की भिन्नता का ज्ञाता नहीं है। इसप्रकार जो ज्ञाता है, वह कर्ता नहीं है और जो कर्ता है, वह ज्ञाता नहीं है।

करे करम सोई करतारा,
जो जाने सो जानन हारा;

जाने नहिं करता जो सोई,
जाने सो करता नहिं होई।

जो ज्ञाता है, उसे कर्मबन्धन नहीं होता; जो रागादि का कर्ता है, उसी को कर्मबन्धन होता है।

९५- **प्रश्न**- तो फिर ज्ञानी किसी का कर्ता है ही नहीं ?

उत्तर—ज्ञानी अपनी सम्यक्त्वादि निर्मल पर्यायोंरूप से परिणमित होता हुआ उसका कर्ता है और वह निर्मलपर्याय उसका कर्म है। इसप्रकार उसे कर्ताकर्म की एकता है। निर्मलपर्याय से बाहर के अन्य किसी कार्य के साथ ज्ञानी की एकता नहीं है, इसलिये ज्ञानी उसका कर्ता नहीं है। राग भी निर्मल पर्याय से बाहर है, ज्ञानी उसका भी कर्ता नहीं है।

९६- जब अपने निर्दोष स्वभाव का और विकारी भाव का भेदज्ञान करके जीव अपने स्वभाव में वर्तता है, तब वह अबन्ध होता है अर्थात् उसे बन्धन नहीं होता। और जब तक विकारी भावों को अपना मानकर उनमें वर्तता है, तबतक उसे बन्धन होता है, मुक्ति नहीं होती।

९७- अनन्तकाल से जीव ने सब कुछ किया है किन्तु विकारीभाव से पृथक् होने का प्रयत्न कभी नहीं किया। अविकारी अबन्धस्वरूप आत्मा को समझने से ही मोक्ष का पंथ प्रगट होता है। स्वभाव और विभाव का भेदज्ञान ही मोक्ष को साधने की डोरी है; भेदज्ञान होते ही मोक्ष को साधने की डोरी हाथ में आती है अर्थात् आत्मा में मोक्ष की नि:शंकता हो जाती है।

९८- देखो भाई, यह अपूर्व सत्य बात है। दुनिया के अनेक जीव न मानें अथवा विरोध करें तो उससे कहीं 'सत्' असत् नहीं हो जाता; और दुनिया के अनेक जीव मानें, उससे कहीं 'असत्' सत् नहीं हो जाता। दुनिया तो अनादि से विपरीत मार्ग पर है ही; वह उल्टा कहेगी ही; परन्तु ज्ञानी अपने अन्तर में सत्य मार्ग में नि:शंक है; दुनिया के आश्रित होकर वे दूसरा कुछ नहीं मानते। संसार में भटकनेवाले और मोक्ष की साधना करनेवाले जीवों के मार्ग भिन्न-भिन्न होते हैं; संसारमार्गी और मोक्षमार्गी इन दोनों के मार्ग एक-दूसरे से विरुद्ध ही होते हैं—विरुद्ध न हों तो संसार-मोक्ष ही न हो।

९९- स्वभाव और विभाव का भेदज्ञान करके जितना स्वभाव में रुका उतना आत्मा, उतना धर्म; और उतना ही जिनशासन; इसके अतिरिक्त राग-द्वेष में रुकना, वह धर्म नहीं है, वह आत्मा नहीं है, वह जिनशासन नहीं है, किन्तु वह अधर्म है, अनात्मा है, विभाव है, आस्रव है, बन्धन है, संसार है।

१००- जब जीव अपने स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान-आचरणरूप परिणमित होता है, तब उसे राग-द्वेषादिभाव अपने में होते दिखाई नहीं देते। 'मैं ज्ञान हूँ,' ऐसे वेदन में एकाग्र होने पर 'मैं क्रोध हूँ' ऐसा वेदन नहीं होता—इसप्रकार ज्ञान और क्रोधादि एकमेक नहीं हैं, भिन्न ही हैं। जिसने उन्हें भिन्न जाना, वह क्रोधादि का कर्ता नहीं होता किन्तु ज्ञाता ही रहता है। ज्ञातापना अपना स्वभाव है और क्रोधादि अपना स्वभाव नहीं है;—इसप्रकार भेदज्ञानपूर्वक दोनों को भिन्न जानकर स्वयं ज्ञातारूप ही रहता हुआ क्रोधादि से भिन्न ही परिणमित होता है; उसने क्रोधादि को अपने से भिन्न जाना, इसलिये उनका कर्ता नहीं होता।

१०१- अपनी स्वभावपर्याय (सम्यग्दर्शनादि) प्रगट करूँ, तभी सच्चा सन्तोष है?—ऐसा न मानकर अज्ञानी जीव अशुभ में शुभराग होने में ही सन्तोष मान लेता है; यानी शुभराग को हितकर मानता है, राग में सन्तोष मान लेता है, इसलिये उसे सचमुच राग का लोभ है, वह अनन्तानुबन्धी लोभ है।

१०२- जहाँ राग का आदर है, वहाँ वीतरागस्वभाव का अनादर है; और जहाँ वीतराग -स्वभाव का अनादर है, वहाँ उस वीतरागस्वभाव को प्राप्त सर्वज्ञ का, उसकी साधना करनेवाले साधुओं का, तथा उसका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रों का भी अनादर अभिप्राय में आ जाता है। वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र की आज्ञा तो वीतरागभाव की ही पोषक है; उसके बदले जिसने अपने अभिप्राय में राग का पोषण किया, उसने वास्तव में वीतराग की आज्ञा का उल्लंघन किया है। बाहर से भले ही वीतराग की भक्ति-पूजा-सम्मान का शुभभाव करता हो, किन्तु अन्तर में वीतरागभाव के अज्ञान के कारण वह अपने अभिप्राय में तो राग का ही सेवन और राग की ही भक्ति-पूजा-सम्मान कर रहा है। यह विपरीत अभिप्राय ही वीतराग की विराधना का महान पाप है, इसका विचार जगत के जीवों को नहीं आता।

१०३- यह बात सुनकर किसी को झनझनाहट भले हो, किन्तु भाई! सत्य बात तो यही है; इसे समझे बिना भव का अन्त नहीं आयेगा। और वास्तव में तो यह बात सुनकर आत्मार्थी जीव को अन्तर से स्वभाव की झनझनाहट उठना चाहिये कि—अहो! ऐसा मेरा स्वभाव!—यही स्वभाव मुझे साधने योग्य है। अभी तक अपना ऐसा स्वभाव मेरे लक्ष में नहीं आया था; अब मैं अपने ऐसे स्वभाव को सर्व प्रयत्न से अवश्य प्राप्त करूँगा।—इसप्रकार स्वभाव की प्राप्ति के लिये जिसके अन्तर में झनझनाहट जागृत होती है, वह जीव उसे प्राप्त करके ही छोड़ता है।

१०४- यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि भेदज्ञान होने पर ज्ञान में क्रोधादि मालूम नहीं पड़ते।

देखो, भेदज्ञान होने पर उन धर्मात्मा को स्वयं ही नि:सन्देह निर्णय हो जाता है कि—मेरा ज्ञान ज्ञानरूप ही है, वह क्रोधादिरूप नहीं होता। 'इस समय मेरा आत्मा ज्ञानरूप परिणमित होता होगा या रागादिरूप ?'—ऐसी शंका उस धर्मी को नहीं होती, किन्तु निस्सन्देहरूप से अपना ज्ञानरूप होता ही प्रतिभासित होता है, रागादिरूप होता किंचित् भी भासित नहीं होता। जहाँ ऐसी नि:शंकता न हो, वहाँ भेदज्ञान ही नहीं है। भेदज्ञान हो जाये और स्वयं को यह मालूम न हो कि 'आत्मा का परिणमन राग से भिन्न ज्ञानरूप हुआ है या नहीं'—ऐसा कभी नहीं होता। भेदज्ञान होने पर स्वयं को अपने स्वभावपरिणमन की नि:शंक प्रतीति हो जाती है।

१०५- अरे जीव! एक बार अपने स्वभाव को लक्ष में लेकर नि:शंक हो! स्वभाव की नि:शंकता के बल से केवलज्ञानादिभाव फूटेंगे। आचार्य भगवान ने अधिकाधिक स्पष्टीकरण द्वारा चिदानन्दस्वभाव को राग से भिन्न बतलाकर नि:शंकता कराई है। इस समयसार शास्त्र की ऐसे बलवान योग में रचना हुई है कि पात्र जीव तुरन्त इसे समझ सकता है। भव्य जीवों पर अपार करुणा करके सन्तों ने आत्मस्वरूप बतलाया है। अन्तर में जरा गहराई तक उतरकर जो इसके रहस्य को समझेगा, उसे इस समयसार की महिमा मालूम होगी। अहो! यह समयसार भरतक्षेत्र का भगवान है.... इस समयसार में मोक्ष का मार्ग बतलाया है।

१०६- अनादि से जीव, शुभाशुभराग के आधीन हो रहा है, उसे यहाँ स्वाधीन आत्मस्वरूप की पहिचान कराई है। अरे जीव! मैं पर का कार्य करता हूँ और पर मेरा कार्य करता है—ऐसी पराधीनता से रहित क्या एक दिन भी नहीं है ?—एक क्षण भी नहीं है ? एक दिन तो ऐसी पराधीनता से रहित हो! अरे, एक क्षण तो पर के साथ का सम्बन्ध तोड़कर तथा अपने आत्मा के साथ सम्बन्ध जोड़कर स्वाधीन हो।—ऐसी स्वाधीनता से तेरे जीवन में अतीन्द्रिय आनन्द का प्रभात उगेगा। इसके बिना कभी सुख या शांति नहीं हो सकती। ऐसी स्वाधीनता का एक क्षण तो प्रगट कर!

१०७- ज्ञान का स्वभाव तो शांत-सुखरूप है, और रागादि का स्वभाव अशांत दु:खरूप है। राग से भिन्न ज्ञान की प्रसिद्धि द्वारा आत्मा की प्रसिद्धि होती है। बालगोपाल सब ज्ञान से समझ सकते हैं, इसलिये ज्ञानलक्षण द्वारा आत्मा की पहिचान कराई है। आत्मोन्मुख 'ज्ञान' में मोक्षमार्ग का समावेश हो जाता है।

१०८- ज्ञानमात्र से ही अबन्धपना किसप्रकार है, वह समझाते हुए यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि—क्रोधादि आस्रव, अशुचि, विपरीत और दु:ख के कारण हैं—ऐसा ज्ञान होते ही आत्मा उनसे विमुख

हो जाता है। और आत्मस्वभाव पवित्र, ज्ञानस्वभावी, सुख से भरपूर है—ऐसा जानकर वह स्वभावोन्मुख हो जाता है। इसप्रकार ज्ञानमात्र से ही जीव को बन्ध का निरोध होता है, अन्य किसी से नहीं।

१०९- अशुभभाव तो मलिन है और शुभभाव भी मलिन हैं। देखो, शुभ को भी मलिन कौन कहता है?—जिसने शुभाशुभराग से रहित महा निर्मल आत्मस्वभाव का अनुभव किया हो, स्वभाव की वीतरागी शांति का आस्वाद लिया हो, वह जीव, शुभराग को भी वास्तव में मलिन ही जानता है। पापभाव को तो साधारण लोग भी मलिन कहते ही हैं, किन्तु पुण्यभाव को वे धर्म समझते हैं; वह आस्रव होने पर भी वे उसे धर्म समझते हैं, यह उनकी मूढ़ता है—अज्ञान है।

११०- जीव को जहाँ सुख भासित होता है, वहीं वह प्रवृत्ति करता है और जहाँ दु:ख लगता है, वहाँ से निवृत्त होता है, क्योंकि सभी जीव सुख चाहते हैं तथा दु:ख से डरते हैं। जब तक जीव राग में सुख मानता है, तब तक वह आस्रवों में ही वर्तता है, किन्तु उनसे विमुख होकर स्वभाव में नहीं आता। भेदज्ञान द्वारा ज्ञानी ऐसा जानते हैं कि यह शुभ-अशुभ सर्व आस्रव दु:खरूप हैं और मेरा ज्ञानस्वभाव ही सुखरूप है। ऐसा जानता हुआ वह आत्मस्वभाव में प्रवृत्ति करता है और आस्रवों से निवृत्त होता है।—इसप्रकार भेदज्ञान ही बन्ध को रोकने तथा मोक्ष को प्राप्त करने का उपाय है।

१११- जिसप्रकार स्वच्छ जल से भरे हुए सरोवर में ऊपर जो सेवार-काई है, वह मलिन है और निर्मल जल उससे पृथक् है; उसीप्रकार निर्मल निर्मल चैतन्य जल से भरे हुए आत्मसरोवर में ऊपर जो रागादि आस्रवों के आच्छादन हैं, वे काई की भाँति मलिनरूप अनुभव में आते हैं, उनका वेदन मलिनरूप है, तथा निर्मल चैतन्यजल उनसे भिन्न है; उस चैतन्य का वेदन निर्मल-वीतरागी आनन्दरूप है। इसप्रकार वेदन द्वारा अपने अन्तर में दोनों को भिन्न-भिन्न समझकर ज्ञानी जीव काई को दूर करके, स्वच्छ जल पीनेवाले पुरुष की भाँति, राग से पृथक् होकर निर्मल चैतन्य का ही अनुभव करता है।

११२- यहाँ आस्रवों को मलिन कहा और उनके समक्ष आत्मा को 'भगवान आत्मा' कहकर 'अतिनिर्मल' कहा। अहा! कहाँ आस्रव और कहाँ परम पवित्र भगवान आत्मा! आस्रवों का स्वाद तो मलिन—कषायला (कषायवाला) है और भगवान आत्मा का स्वाद परम पवित्र, मीठा-मधुर (आनन्दरूप) है।—ऐसे स्वादभेद को जाननेवाला ज्ञानी आस्रवों के स्वाद में क्यों लीन होगा?

११३- भगवान आत्मा तो स्व-पर प्रकाशक जागृतज्योति है और पुण्य-पाप की वृत्तिरूप आस्रव स्वयं अपने को या दूसरे को न जाननेवाले होने से जड़ स्वरूप हैं, वे तो दूसरे के द्वारा ज्ञात होने योग्य हैं।—इसप्रकार भी ज्ञानस्वरूप आत्मा क्रोधादि से भिन्न है।

११४- क्रोध को खबर नहीं है कि 'मैं क्रोध हूँ;' उससे भिन्न ऐसा ज्ञान ही उसे जानता है कि 'यह क्रोध है।' 'मैं ज्ञान हूँ'—इसप्रकार ज्ञान स्वयं अपने को भी जानता है, और 'यह क्रोध है, सो मैं नहीं हूँ'—इसप्रकार वह पर को भी जानता है। 'मैं क्रोध हूँ'—ऐसा मानकर क्रोधादि में परिणमित (-किन्तु उनसे पृथक् न रहता हुआ) ऐसा ज्ञान स्वयं को या क्रोधादि को नहीं जान सकता, इसलिये वह अंध ज्ञान है, अर्थात् वह ज्ञान नहीं किन्तु अज्ञान है। भेदज्ञान द्वारा ज्ञान तथा क्रोधादि को भिन्न जानता हुआ भगवान आत्मा सदैव चेतकरूप ही रहता है, क्रोधादिरूप नहीं होता।

११५- ऐसा भेदज्ञान होते ही जीव को अपने अन्तर में मुक्ति प्रतिभासित होती है और बन्धन से वह दूर रहता है। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! यह भेदज्ञान ही मुक्ति का परम उपाय है, उसी से बन्धन अटक जाता है। स्वभाव को प्रगट करने और बन्धन को रोकने का यह एक ही उपाय है, अन्य कोई नहीं।

११६- कोई कहे कि इसमें तो अकेला ज्ञान आया, प्रत्याख्यानादि कुछ नहीं आये? तो उससे कहते हैं कि अरे भाई! 'ज्ञान' का अर्थ तू अभी नहीं जानता, प्रत्याख्यान की भी तुझे खबर नहीं है; इसीलिये तुझे यह सन्देह पैदा हुआ है। चैतन्यतत्त्व को यथार्थतया जानकर उसमें ज्ञान जितने अंश में स्थिर हुआ, उतने अंश में सच्चा प्रत्याख्यान है; वह ज्ञान स्वयं ही प्रत्याख्यानस्वरूप है, क्योंकि उस ज्ञान में रागादि परभावों का त्याग वर्तता है। यथार्थ ज्ञान के बिना अज्ञानी प्रत्याख्यान का स्वरूप नहीं जान सकता। अज्ञानी तो अशुभ को किंचित् छोड़कर शुभ करेगा, उसी को प्रत्याख्यान मानेगा; परन्तु शुभभावरूप प्रत्याख्यान भी बन्धनरूप है और स्वरूप में स्थिर होता हुआ ज्ञान ही अबन्धरूप है। राग में रुके हुए जीव, जिसमें राग का त्याग है, ऐसे ज्ञान को, (-प्रत्याख्यानस्वरूप ज्ञान को) पहिचान भी नहीं सकते।

११७- प्रथम ज्ञानस्वभाव क्या वस्तु है, उसे पहिचाने तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होते ही अनन्त बन्ध छूट जाता है; फिर जो अल्प बन्ध रहता है, वह भी ज्ञान से पृथक्रूप ही रहने के कारण उसे गिनती में नहीं लिया जाता। अल्पकाल में ज्ञान अपने स्वरूप में स्थिर होने पर वह अल्पबन्ध भी छूट जायेगा और आत्मा सर्वथा अबन्ध-साक्षात् परमात्मा हो जायेगा।—इसप्रकार

चैतन्यस्वरूप आत्मा को पहिचानकर उसमें ज्ञान की लीनता ही संसार नाश का तथा परमात्मपद प्राप्ति का एकमात्र अमोघ उपाय है।

११८- भेदज्ञानी ऐसा जानता है कि मैं विज्ञानघन हूँ; विभाव, विभावों को भी नहीं जानते और मुझे भी नहीं जानते; मैं विभावों को जानता हूँ और अपने को भी जानता हूँ; इसप्रकार मैं स्व-पर को जाननेवाला विज्ञानघन हूँ। मेरा विज्ञानघनस्वभाव विभावों से भिन्न ही है।—ऐसा जाननेवाला भेदज्ञानी जीव विभावों से विमुख होकर स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-रमणता में वर्तता है अर्थात् मोक्षमार्ग में वर्तता है; इसलिये उसे बन्धन नहीं होता।

११९- लोग बाह्य देहादि की प्रवृत्ति को देखकर धर्म का माप निकालते हैं; किन्तु भाई! आत्मा का धर्म आत्मा के भाव में होगा या जड़ में?—देह से तथा राग से भिन्न ऐसे आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान गृहस्थदशा में हो सकते हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! ज्ञानघन आत्मा की श्रद्धा होने पर अनन्त कर्मों की निर्जरा हो जाती है; और फिर उसमें स्थिरता होने पर केवलज्ञान होता है; ऐसी भेदज्ञान की महिमा है।

१२०- शुभभाव से स्वर्ग की तथा अशुभभाव से नर्क की प्राप्ति होती है; किन्तु दोनों भाव हैं तो बन्धनरूप—इसका यह अर्थ नहीं है कि पुण्यभाव छोड़कर पापभाव करना चाहिये।—ऐसी बात तो होती नहीं है; ऐसा तो किसी ज्ञानी का वचन हो ही नहीं सकता।

—परन्तु पुण्यभाव करते-करते धर्म न तो कभी हुआ है, न होता है और न कभी होगा। पुण्यपाप के भाव, वह कहीं स्वभाव के साथ संलग्नता का कार्य नहीं है; वह तो कर्म के साथ संलग्नता का कार्य है तथा दुःख का कारण है।

१२१- पाप और पुण्य—यह दोनों भाव आकुलता उत्पन्न करनेवाले हैं; वर्तमान समय में भी वे भाव दुःखरूप हैं और भविष्य में भी दुःख के ही कारण हैं; जबकि भगवान आत्मा तो सदैव निराकुलस्वभावी है, आनन्दस्वरूपी है, उसके अवलम्बन से आनन्द का ही अनुभव होता है; वह दुःख का नहीं किन्तु सुख का ही कारण है और उसके सुख कार्य का कर्म के साथ किंचित् सम्बन्ध नहीं है। रागादि आस्रव तो कर्म के साथ सम्बन्धवाले हैं।—इसप्रकार आत्मा और आस्रवों की भिन्नता है। ऐसी भिन्नता को जानकर, हे जीव! तू रागादि से निवृत्त हो... और अंतर्मुख होकर अपने ज्ञानस्वभाव में ही प्रवृत्ति कर! ऐसा करने से तेरे भवबन्धन टूट जायेंगे और तुझे अपने सुख का अनुभव होगा।

माता जिसप्रकार बालक को समझाती है

—उसीप्रकार—

आचार्यदेव शिष्य को समझाते हैं

माता जब अपने बच्चे को समझाती है, तब कभी तो ऐसा कहती है कि—'बेटा! तू बड़ा चतुर है... तुझे यही शोभा देता है!' और कभी ऐसा भी कहती है कि 'तू तो मूर्ख है... पागल है।'—इसप्रकार कभी कोमल शब्दों में समझाती है तो कभी कठोर शब्दों में डाँटती है; किन्तु हर समय माता के हृदय में पुत्र की भलाई का ही अभिप्राय है; इसलिये उसके उपदेश में तो दोनों प्रसंगों पर कोमलता ही है। उसीप्रकार धर्मात्मा संत बालक जैसे अबोध शिष्यों को समझाने के लिये कभी तो कोमल शब्दों में कहते हैं कि 'हे भाई! तेरा आत्मा सिद्ध समान है, उसे तू जान!' और कभी कठोर शब्दों में कहते हैं कि 'अरे मूर्ख! पुरुषार्थहीन नपुंसक! अब तो अपने आत्मा को पहिचान! तुझे कब तक यह मूढ़ता रखना है ? अब तो इसे छोड़!'—इसप्रकार कभी कोमल तो कभी कठोर सम्बोधन द्वारा उपदेश देते हैं; किन्तु दोनों प्रकार के उपदेश में उनका अभिप्राय तो शिष्य के हित का ही है, इसलिये उनके उपदेश में कोमलता ही है.... वात्सल्य ही है।

—यहाँ श्री समयसार कलश-२३ में भी आचार्यदेव कोमल सम्बोधन करके शिष्य को उपदेश देते हैं:—

अयि! कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्व मोहम्॥

रे भाई! तू किसी भी प्रकार तत्त्व का कौतूहली बन। हित की सीख देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! तू चाहे जिसप्रकार तत्त्व का जिज्ञासु बन... और शरीर से भिन्न आत्मा का अनुभव कर! शरीर के साथ तेरी एकता नहीं है किन्तु भिन्न है.... तेरे चैतन्य का विलास शरीर से भिन्न है; इसलिये अपने उपयोग को पर की ओर से हटाकर अन्तरोन्मुख कर।

पर में तेरा नास्तित्व है, इसलिये अपने उपयोग को पर से विमुख कर। तेरे उपयोगस्वरूप आत्मा में पर की प्रतिकूलता नहीं है। मरण जितना कष्ट (-बाह्य प्रतिकूलता) आये, तथापि उसकी

दृष्टि छोड़कर अंतर में जीवित चैतन्यस्वरूप की दृष्टि कर! 'मृत्वा अपि अर्थात् मरकर भी आत्मा का अनुभव कर'—ऐसा कहकर आचार्यदेव ने शिष्य को पुरुषार्थ की प्रेरणा दी है। बीच में कोई प्रतिकूलता आये तो अपने प्रयत्न को छोड़ न देना, किंतु मृत्यु जितनी प्रतिकूलता सहन करके भी तू आत्मा की थाह लेना... उसका अनुभव करना। मुझे अपने आत्मा में ही जाना है; उसमें पर का हस्तक्षेप क्यों? प्रतिकूलता कैसी? बाह्य प्रतिकूलता का आत्मा में अभाव है—इसप्रकार उपयोग को बदलकर आत्मोन्मुख कर;—ऐसा करने से एकत्वबुद्धिरूप मोह छूट जायेगा.... और तुझे पर से भिन्न अपना चैतन्यतत्त्व आनन्दविलास सहित अनुभव में आयेगा।

३८वीं गाथा तक पर से भिन्न शुद्ध जीव का स्वरूप अनेकानेक प्रकार से स्पष्ट करके समझाने पर भी जो नहीं समझेगा तथा देहादि को ही आत्मा मानेगा, उसे आचार्यदेव कठोर सम्बोधन करके समझायेंगे कि—हमने इतना-इतना समझाया, तथापि जो जीव शरीर को, कर्म को तथा राग को ही आत्मा का स्वरूप मानता है, वह मूढ़ है, अज्ञानी है, पुरुषार्थहीन है, पर को ही आत्मा मान-मानकर वह आत्मा के पुरुषार्थ को हार बैठा है। अरे, पशु समान मूढ़! समझ ले! भेदज्ञान करके अपने आत्मा को पर से भिन्न जान.... राग से भिन्न चैतन्य का स्वाद ले।

—इसप्रकार जैसे माता अपने बच्चे को समझाती है, उसीप्रकार आचार्यदेव शिष्य को अनेक प्रकार से समझाते हैं... उसमें उसके हित का ही अभिप्राय है।

आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! जड़ की क्रिया में अपने धर्म को ढूँढ़ना छोड़ दे। तेरा धर्म इस चैतन्य में है, वह कभी जड़ नहीं हुआ है। जड़ और चैतन्य दोनों द्रव्यों को विभाजित करके मैं कहता हूँ कि यह चैतन्य द्रव्य ही तेरा है; इसलिये अब जड़ से भिन्न अपने शुद्ध चैतन्यतत्त्व को जानकर तू सर्व प्रकार से प्रसन्न हो... अपना चित्त उज्ज्वल करके सावधान हो... और 'यह स्वद्रव्य ही मेरा है' ऐसा अनुभव कर। अहा! हमने तुझे ऐसा चैतन्यतत्त्व दिखलाया... अब तू आनन्दित हो... प्रसन्न हो!

जैसे—कोई दो बच्चे किसी वसतु के लिये झगड़ते हैं तो माता बीच में पड़कर उस वस्तु के दो भाग कर देती है और बच्चे मान जाते हैं। उसीप्रकार यहाँ आचार्यदेव जड़-चेतन के भाग करके बालक समान अज्ञानी को समझाते हैं कि ले, यह तेरा भाग... यह जो चैतन्य है, सो तेरा भाग है और यह जड़ है, सो जड़ का भाग है। तेरा चैतन्यभाग ज्यों का त्यों सम्पूर्ण शुद्ध है, उसमें कुछ बिगड़ा नहीं है; इसलिये अपना यह भाग लेकर तू प्रसन्न हो.... आनन्दित हो... अपने मन का समाधान

करके अपने चैतन्यानन्द का उपभोग कर... उसके अतीन्द्रिय सुख का स्वाद ले!

अज्ञानी का अज्ञान दूर करने तथा उसे चैतन्यसुख का अनुभव कराने के लिये आचार्यदेव उपदेश देते हैं। कठोर सम्बोधन करके नहीं, किन्तु वात्सल्यपूर्वक कहते हैं कि हे वत्स! क्या तुझे इस जड़ शरीर के साथ एकत्व शोभा देता है?—नहीं, नहीं। तू तो चैतन्य है... इसलिये जड़ से पृथक् हो... उसका पड़ोसी बनकर उससे भिन्न अपने चैतन्य का अवलोकन कर! दुनिया की चिन्ता छोड़कर अपने चैतन्य को देख। यदि तू दुनिया की अनुकूलता या प्रतिकूलता को देखने में रुकेगा तो अपने चैतन्यभगवान को नहीं देख पायेगा; इसलिये दुनिया का लक्ष छोड़कर उससे विमुख होकर अंतर में अपने चैतन्य को देख... अन्तर्मुख होते ही तुझे ज्ञात होगा कि चैतन्य का कैसा अद्भुत विलास है!

हे बन्धु! तू चौरासी के अवतारूपी कुएँ में पड़ा है, उसमें से बाहर निकलने के लिये—जगत् के चाहे जितने परीषह या उपसर्ग सहकर तथा मृत्यु से भी भयंकर वेदना उठाकर—तू अपने चैतन्यदल को देख। शरीर या शुभाशुभभाव मेरे स्वगृह की वस्तु नहीं है, किन्तु वे तो पड़ौसी हैं। वे मेरे निकट रहनेवाले हैं, किन्तु मेरे साथ एकाकार होकर रहनेवाले नहीं हैं;—इसप्रकार एकबार उनका पड़ौसी होकर भिन्न आत्मा का अनुभव कर। दो घड़ी तो ऐसा करके देख! इतने समय में ही तुझे अपने चैतन्य का अपूर्व विलास दृष्टिगोचर होगा।

यह बात सरल है, क्योंकि तेरे स्वभाव की है और तुझसे हो सकती है, तथा ऐसा करने में ही तेरा हित है.... इसलिये सर्व प्रकार के उद्यम से तू ऐसे चैतन्य का अनुभव कर।—ऐसा संतों का उपदेश है।

(—पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से)

एक शर्त

आत्मप्राप्ति की पढ़ाई का कोर्स कितना?—तो कहते हैं कि अधिक से अधिक छह महीना! जिसप्रकर मेट्रिक तक पढ़ाई का कोर्स दस-ग्यारह वर्ष का होता है; तत्पश्चात् बी.ए. की पढ़ाई का कोर्स ४ वर्ष का होता है, उसीप्रकार यहाँ धर्म की पढ़ाई में बी.ए. का अर्थात् 'ब्रह्मस्वरूप आत्मा के अनुभव का' कोर्स कितना?—तो आचार्यदेव कहते हैं कि अधिक से अधिक छह महीने तक अध्ययन करने के पश्चात् तुझे ब्रह्मस्वरूप आत्मा का अनुभव अवश्य होगा.... किन्तु अध्ययन में एक शर्त है।

'कौन-सी शर्त?'—यह जानने के लिये अगले अंक में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन अवश्य पढ़ें।

छह महीने का कोर्स

आत्मप्राप्ति के अभ्यास का कोर्स कितना?—अधिक से अधिक छह महीने का! जिसप्रकार मेट्रिक की पढ़ाई का कोर्स १०-११ वर्ष का होता है, फिर बी.ए. की पढ़ाई का कोर्स ४ वर्ष का होता है; उसीप्रकार यहाँ धर्म की पढ़ाई में बी.ए. अर्थात् ब्रह्मस्वरूप आत्मा के अनुभव का कोर्स कितना?—तो आचार्यदेव कहते हैं कि अधिक से अधिक छह महीने का! छह महीने तक अभ्यास करने से तुझे ब्रह्मस्वरूप आत्मा का अनुभव अवश्य हो जायेगा... किन्तु अभ्यास में एक शर्त है?....कौन-सी शर्त?—कि अन्य व्यर्थ का कोलाहल छोड़कर अभ्यास करना.....

किसप्रकार अभ्यास करना चाहिये वह आचार्यदेव बतलाते हैं—

(समयसार कलश ३४ का प्रवचन)

विरम! किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलादिभिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किंचौपलब्धिः ॥३४॥

जिसे आत्मा का अनुभव करने की लगन लगी है, ऐसे शिष्य को सम्बोधन कर आचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य! विरम.... जगत के अन्य व्यर्थ कोलाहल से तू विरक्त था... उससे तुझे कुछ लाभ नहीं है, इसलिये तू उससे विरक्त हो... बाह्य कोलाहल को एक ओर रखकर अंतर में चैतन्य को देखने का अभ्यास कर। समस्त परभावों के कोलाहल से रहित ऐसे चैतन्यस्वरूप का अवलोकन करने के लिए निभृत हो... निभृत होकर (अर्थात् शांत होकर, निश्चल होकर, एकाग्र होकर, विश्वासु होकर, स्थिर होकर, गुप्त रीति से चुपचाप, विनीत होकर, शिक्षित होकर, दृढ़ होकर) अंतर में चैतन्य को देखने का छह महीने तक इस प्रकार प्रयत्न कर... एकबार छह महीने तक ऐसा अभ्यास करके तू विश्वास कर देख... कि ऐसा करने से तेरे हृदय-सरोवर में पुद्गल से भिन्न ऐसे चैतन्य प्रकार की प्राप्ति होती है या नहीं? छह महीने में तो अवश्य प्राप्ति होगी।

हे भाई! अपनी बुद्धि से देह और रागादि को अपना मानकर उनका तो तूने अनंत काल से अभ्यास किया, तथापि तुझे चैतन्य विद्या प्राप्त नहीं हुई, अपना आत्मा तेरे अनुभव में नहीं आया

और तू अज्ञानी ही रहा.... इसलिये अब अपनी उस मिथ्याबुद्धि को छोड़कर हम कहते हैं, उस प्रकार अभ्यास कर। ऐसे अभ्यास से छह महीने में तो तुझे अवश्य ही चैतन्यविद्या प्राप्त होगी... छह महीने तक लगनपूर्वक अभ्यास करने से तुझे अवश्य आत्मा का अनुभव होगा। भाई, छह महीने तो हम अधिक से अधिक कहते हैं। यदि तू उत्कृष्ट आत्मलगनपूर्वक अभ्यास करेगा तो तुझे दो घड़ी में ही आत्मा का अनुभव हो जायेगा।

अहा, देखो तो सही.... यह चैतन्य के अनुभव का मार्ग! कितना सरल और सहज? चैतन्य का अनुभव सहज और सरल होने पर भी, दुनिया के व्यर्थ कोलाहल में रुक जाने के कारण इस जीव को वह दुर्लभ हो गया है; इसलिये आचार्यदेव मुख्य शर्त रखते हैं कि दुनिया का व्यर्थ कोलाहल छोड़कर चैतन्य के अनुभव का अभ्यास कर—एक चैतन्यतत्त्व के अतिरिक्त अन्य सब कुछ भूल जा.... इसप्रकार, मात्र चैतन्य का ही अभिलाषी होकर अंतर में उसके अनुभव का अभ्यास करे तो उसकी प्राप्ति क्यों नहीं होगी?—अवश्य होगी। 'कितने समय में?'—तो कहते हैं कि सिर्फ दो घड़ी में। कदाचित् तुझे कठिन मालूम हो तथा विलम्ब हुआ, तो भी अधिक से अधिक छह महीने में तो अवश्य आत्मा की प्राप्ति होगी। इसप्रकार आत्म प्राप्ति के अभ्यास का अधिक से अधिक कोर्स छह महीने का है।

यहाँ 'अधिक से अधिक छह महीना' कहकर कहीं काल की गिनती पर भार नहीं देना है, किन्तु शिष्य को आत्मलगन के कैसे भाव हैं, वह बतलाना है। समस्त जगत की चिन्ता छोड़कर जो शिष्य, आत्मानुभव के लिए तैयार हुआ, वह काल की अवधि नहीं देखता कि 'कितना काल हुआ!' वह तो अंतर में चैतन्य को पकड़ने के अभ्यास में गहराई तक उतरता जाता है; प्रतिक्षण चैतन्यस्वभाव के निकट होता जाता है.... ऐसा ही धारावाही अभ्यास आत्मानुभव होने तक जारी रखता है। ऐसे अनुभव के अभ्यास में उसे स्वयं ही अंतर में प्रतिभासित होता है कि मेरे चिदानन्द -स्वभाव की शांति अब निकट ही है; सुख-समुद्र का स्पर्श करके वायु आ रही है, अब सुख का समुद्र एकदम पास ही है। इसलिये आचार्यदेव ने कहा है कि हे भाई! छह महीने तक ऐसा अभ्यास करने से तुझे स्वयं ही अपने हृदय में चैतन्य का विलास दिखाई देगा। इसलिये अभी तक के अपने तर्क एक ओर रख और इसप्रकार अंतर में चैतन्य के अनुभव का अभ्यास कर।

देखो, यह चैतन्य विद्या का अभ्यास! यह चैतन्यविद्या तो भारत की विद्या है। प्राचीन काल में तो भारत के बालकों में बचपन से ही ऐसे संस्कार डाले जाते थे... माताएँ भी धर्मात्मा होती थीं...

वे अपने बच्चों में ऐसे संस्कार डालती थीं और बच्चे भी अंतर में अभ्यास करके-अंतर की गहराई में उतरकर—आठ-आठ वर्ष की उम्र में आत्मा का अनुभव करते थे... भारत में चैतन्यविद्या का ऐसा उद्योतमान धर्मकाल था। उसके बदले आज तो इस चैतन्यविद्या का श्रवण मिलना भी दुर्लभ हो गया है!! परन्तु जिसे हित करना हो और शांति की आवश्यकता हो, उसे यह चैतन्य विद्या सीखना ही पड़ेगी.... इसके अतिरिक्त जगत की अन्य किसी विद्या द्वारा आत्मा को हित या शांति का अंश भी नहीं मिल सकता; इसलिये हे जीव! 'यह बात हमारी समझ में नहीं आती.... हमें कठिन मालूम होती है.... अभी हमें समय नहीं है... ऐसी व्यर्थ की कलबल छोड़कर इस चैतन्य के अभ्यास में ही अपने आत्मा को जोड़ो। छह महीने तक निरन्तर अभ्यास करने से तुम्हें अवश्य ही आत्मभान तथा आत्मशांति होगी।

लोग सांसारिक विद्या-मेट्रिक अथवा एम.ए. की पढ़ाई में कितने वर्ष गँवाते हैं? पैसा कमाने के लिये परदेश में भी कितने वर्ष पड़े रहते हैं?—तो फिर इस चैतन्य-विद्या के लिये—जो कि अपूर्व है—एकबार छह महीने का समय तो निकालो! छह महीने तक तो अंतर में चैतन्य-विद्या का अभ्यास करो! मन की, राग की तथा पर की अपेक्षा बिना—परावलम्बन से रहित होकर स्वाश्रित चैतन्य के अनुभव के लिये निश्चलरूप से छह महीने तक तो अंतर में प्रयत्न करो! मैं समस्त परभावों से भिन्न हूँ—ऐसा लक्ष में लेकर, अंतर में उतरकर एकबार तो चैतन्य-सरोवर में डुबकी लगाओ। स्वरूप के अभ्यास से आत्मप्राप्ति सुलभ है, अधिक से अधिक छह महीने में अवश्य वह प्राप्त होता है।

मोक्षसाधक मुनिराज की अद्भुत दशा

(नियमसार गाथा ६३ के प्रवचन से)

सर्वप्रथम जिन्होंने आत्मा के आनन्द का भान किया है कि मेरा आनन्द मुझमें ही है; तथा उस आनन्द का अंशतः वेदन भी किया है; फिर अंतर्मुख होकर उस आनन्द को पूर्ण विकसित करने के लिये जो प्रयत्नशील है—ऐसे साधक मुनिवरों की यह बात है।

चैतन्यस्वरूप में वर्तते हुए उनकी परिणति ऐसी शांत हो गई है कि किसी भी बाह्यप्रवृत्ति का बोझ सिर पर नहीं है; बाहरी बोझा से रहित हलके फूल जैसे हो गये हैं और चैतन्य के आनन्द में मग्न हैं। ऐसे मुनिवरों को समिति-गुप्तिरूप प्रवर्तन सहज ही होता है। अन्तर में विकल्प का उत्थान भी जहाँ बोझरूप है, वहाँ बाह्य प्रवृत्ति की तो बात ही कहाँ रही! बारम्बार अंतर्मुख होकर चैतन्य का अवलोकन करनेवाले मुनिवरों की दशा अंतर तथा बाह्य में एकदम शांत हो गई है; उनके रोम-रोम में, चैतन्य के प्रदेश-प्रदेश में समाधि परिणमित हो गई है, अंतर में आनन्द का समुद्र उल्लसित होने से पर्याय में आनन्द का ज्वार आया है।—ऐसी आनन्ददशावाले साधक मुनिवरों को वस्त्र की या सदोष आहारादि की वृत्ति नहीं होती।

अहा! मुनि जो मानों अध्यात्म की मूर्ति हैं! अध्यात्म का सार जो आत्मअनुभव, वह मुनिवरों ने प्राप्त कर लिया है। 'अध्यात्म का सार' अर्थात् शास्त्रज्ञान की बात नहीं है, किन्तु भावश्रुत को अन्तरोन्मुख करके शुद्ध आत्मा का अनुभव करते हैं, वही अध्यात्म का सार है, वही रत्नत्रय की आराधना है। ऐसा अध्यात्म का सार मुनिवरों ने प्राप्त किया है; इसलिये अंतर में अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद के वेदन से वे शांत हो गये हैं और बाह्य चेष्टाएँ भी शांत हो गई हैं। अहा! साधुओं की शांतदशा की क्या बात! अंतरंगशाति का तो कहना ही क्या! देह में से भी मानो उपशांत रस टपक रहा हो!—ऐसे शांत हैं। चैतन्य के प्रदेश-प्रदेश में उन्हें निर्विकल्प समाधि परिणमित हो गई है.... कषायों की झनझनाहट जिनके दूर हो गई है और चैतन्य में शांतरस के फव्वारे छूट रहे हैं।

श्री गोम्मटेश्वर की यात्रा के समय बड़ी लाइट में जब श्री बाहुबलिस्वामी की शान्त सुप्रसन्न जिनमुद्रा देखकर विचार आया था कि जब से केवलज्ञान ज्योति उनने प्रगट की, तब से वहाँ प्रत्यक्ष असंख्य प्रदेशी चैतन्य बाग में ज्ञानप्रकाश की जगमगाहट के बीच अतीन्द्रिय आनन्द के फव्वारे छूटे हैं... उसे चैतन्य बाग के आनन्द का क्या कहना!.... अज्ञानियों को तो उसकी कल्पना भी नहीं

होती। मुनिवरों का आत्मा ऐसे चैतन्यबाग में विश्राम करता हुआ शांतरस में डूब गया है।

—ऐसे मुनिवर मोक्ष के पथिक हैं। समस्त संसारक्लेश को नष्ट करके आनन्दरस में झूलते-झूलते वे शीघ्र मोक्षपद प्राप्त करते हैं।

उन्हें नमस्कार हो!

सम्यग्दृष्टि-ज्ञाता का विचार और आचार

पं० बनारसीदासजी 'परमार्थ वचनिका' में लिखते हैं कि:—

ज्ञाता तो मोक्षमार्ग को साधना जानता है, किन्तु मूढ़ मोक्षमार्ग को साधना नहीं जानता.... बाह्यक्रिया करता हुआ मूढ़ जीव अपने को मोक्षमार्ग का अधिकारी मानता है, किन्तु अन्तर्गर्भित अध्यात्मरूप क्रिया—जो अंतर्दृष्टि ग्राह्य है, उस क्रिया को मूढ़ जीव नहीं जानता, क्योंकि अंतर्दृश्टि के अभाव से अंतर क्रिया दृष्टिगोचर नहीं होती; इसलिये मिथ्यादृष्टि जीव मोक्षमार्ग को साधने में असमर्थ है।

....सम्यग्दृष्टि जीव अंतर्दृष्टि द्वारा मोक्षपद्धति को साधना जानता है.... सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरण की कणिका जागृत होने पर मोक्षमार्ग सच्चा... मूढ़ जीव बंध पद्धति की साधना करता हुआ उसे मोक्षमार्ग कहे, वह बात ज्ञाता नहीं मानता; क्योंकि बन्ध को साधने से बन्ध सधता है किन्तु मोक्ष नहीं सधता। जब ज्ञाता कदाचित् बन्धपद्धति का विचार करे, तब वह जानता है कि इस बन्धपद्धति से मेरा द्रव्य अनादिकाल से बन्धरूप चला आ रहा है, अब उस पद्धति का मोह तोड़कर वर्तन कर! इस पद्धति का राग पूर्व की भाँति हे नर! तू किसलिये करता है? वह क्षणमात्र भी बन्ध-पद्धति में मग्न नहीं होता। वह ज्ञाता अपने स्वरूप का विचार करता है, अनुभव करता है, ध्यावे है—गाता है, श्रवण करता है, तथा नवधाभक्ति, तप, क्रिया अपने शुद्ध स्वरूपोन्मुख होकर करता है;—यह ज्ञाता का आचार है।

सीख

जिसप्रकार माता अपने बच्चे को समझाते हुए कभी तो कहती है कि—''बेटा तू बड़ा समझदार है... तुझे यही शोभा देता है!'' और कभी ऐसा भी कहती है कि—''तू मूर्ख है... पागल है!'' इसप्रकार कभी मृदुता भरे शब्दों में समझाती है तो कभी कठोर शब्दों में धमकाती भी है; किन्तु हर समय माता के हृदय में पुत्र के हित की भावना है, इसलिये उसकी सीख में कोमलता ही भरी है; उसीप्रकार धर्मात्मा संत, बालक समान अबोध शिष्य को समझाने के लिये उपदेश में कभी मृदुता से ऐसा कहते हैं कि ''भाई! तेरा आत्मा सिद्ध समान है, उसे तू जान!'' और कभी कठोर शब्दों में कहते हैं कि—''अरे मूर्ख! पुरुषार्थहीन नपुंसक! अब तो अपने आत्मा को पहिचान! यह मूढ़ता तुझे कबतक रखना है? अब तो इसे छोड़!''—इसप्रकार कभी मृदु और कभी कठोर सम्बोधन से उपदेश देते हैं; किन्तु दोनों प्रकार के उपदेश के समय उनके हृदय में शिष्य के हित का ही अभिप्राय है; इसलिये वहाँ कोमलता ही है.... वात्सल्य ही है।

समयसार कलश २३ में आचार्यदेव कोमलता से सम्बोधन करके शिष्य को उपदेश देते हैं। क्या उपदेश देते हैं?—वह जानने के लिये अगले अंक में पूज्य गुरुदेव का तत्सम्बन्धी प्रवचन अवश्य पढ़ें!

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मूल में भूल	।।।)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन (दूसरी आवृत्ति)	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समाधितन्त्र	२ ।=
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	स्तोत्रत्रयी	॥)
द्वितीय भाग	२)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥–)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम–	३)
द्वितीय भाग	॥–)	आत्मधर्म फाइलें १–३–५–६–७–८–१०–११–१२–१३ वर्ष	३ ।।।)
तृतीय भाग	॥–)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।